

## महाभारत के शान्तिपर्व में अन्तर्निहित आचारशास्त्रीय अवधारणा



पूनम यादव  
शोधच्छात्रा  
संस्कृत विभाग  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय लौकिक साहित्य में रामायण के पश्चात् महाभारत का ही स्थान है। यह कई दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह भारतीय साहित्य का आकार ग्रन्थ है इसमें चतुर्वर्ग के सभी विषय, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, प्रतिपादित हैं। महाभारत में इस तथ्य का उल्लेख है।

**धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।**

**यदिहास्ति तदन्यत्र, यत्रेहास्ति न तत् क्वचित्।<sup>1</sup>**

महाभारत के प्रमुख रचयिता व्यास (वेदव्यास या कृष्ण द्वैपायन) हैं। इसमें 18 पर्वों में कौरव-पाण्डवों का इतिहास है। जिसकी प्रमुख घटना महाभारत का युद्ध है। 18 पर्वों का नाम इस प्रकार है—(1) आदिपर्व, (2) सभापर्व, (3) वन पर्व, (4) विराट्पर्व, (5) उद्योग पर्व, (6) भीष्म पर्व, (7) द्रोण पर्व, (8) कर्ण पर्व, (9) शल्य पर्व, (10) सौप्तिक पर्व, (11) स्त्रीपर्व, (12) शान्ति पर्व, (13) अनुशासन पर्व (14) आश्वमेधिक पर्व, (15) आश्रमवासिक पर्व, (16) मौसल पर्व, (17) महाप्रस्थानिक पर्व, (18) महाप्रस्थानिक पर्व। महाभारत में एक लाख श्लोक, उपाख्यान सहित उपलब्ध हैं।

आचार-मानव जीवन का एक अपरिहार्य अंग है। मनुष्य के निर्मल मन में जब विचारों का उदय हुआ तो उसका सर्वप्रथम ध्यान बाह्य जगत की ओर आकृष्ट हुआ। जीवन के उद्देश्य को जानने की इच्छा उसके अन्दर उत्पन्न हुई, जो आचार की उत्पत्ति में प्रेरणास्रोत बनी। आचार वह प्रेरणास्रोत प्रणाली है जिसके द्वारा नैतिक चेतना की निरन्तर खोज की जाती है। 'आचार'

<sup>1</sup> महाभारत आदिपर्व-62/53

शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ को जाने बिना हम आचार शब्द के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ नहीं सकते हैं।

‘आचार’ शब्द अंग्रेजी भाषा के Morality (मोरेलिटी) का पर्याय है। जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Mores' शब्द से हुई है और जिसे 'Moral Philosophy' अथवा 'Science of Morality' कहा जाता है। यहाँ 'Mores' शब्द का अर्थ है “रीति-रिवाज” या आदत है।<sup>2</sup> अतः मनुष्य के रीति-रिवाजों अथवा अभ्यास को आचार कहा जाता है। वास्तव में रीति-रिवाज मनुष्य के लिए किए गए कर्मों का प्रतिफल ही है, जिन्हें व्यवहार या आदत के रूप में जाना जाता है। अतः आचार शब्द को मनुष्यों के ‘चरित्र का विज्ञान’ कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

संस्कृत में ‘आचार’ शब्द आङ् उपसर्गपूर्वक भ्वादिगण्य<sup>3</sup> ‘चुर’ धातु से ‘घञ्’ प्रत्यय के योग से बना है। जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—“आचरति एनम् अनेन इति वा” अर्थात् ‘इसका या इसके द्वारा आचरण करता है। इस प्रकार ‘आचार’ वह व्यवहार अथवा कर्तव्याचरण है जो मानव के अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक साधन है। प्रत्येक मनुष्य में ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह निरन्तर विकास करता हुआ आगे बढ़ जाये। जो सत्कर्म मनुष्य को अच्छे कर्म करने के लिये प्रेरित करें, उन्हें ‘आचार’ कहा जाता है।<sup>4</sup> स्वतः अपने प्रति और दूसरों के प्रति सामान्य अथवा असामान्य व्यक्तियों के प्रति जो नैतिक कर्तव्य होते हैं वे आचार कहलाते हैं।<sup>5</sup> महाभारत में कहा गया है कि श्रेष्ठ पुरुषों का व्यवहार ‘आचार’ कहलाता है।<sup>6</sup> अतः हम कह सकते हैं कि शिष्ट व्यक्तियों द्वारा आग्रह किए गए बहुमान्य रीति-रिवाजों को ‘आचार’ कहते हैं। वैदिक काल के ऋषियों ने कर्म और आचार में अभेद मानते हुए कहा है कि— “यथाकारी-यथाचारी तथा भवति”<sup>7</sup> अर्थात् जो जैसा कार्य करता है, आचरण करता है, वह वैसा ही हो जाता है। इस प्रकार अपने आपको आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के जीवन में नैतिक आचार और विचार ये दोनों ही रथ के दो पहिये के समान

<sup>2</sup> इनसाक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग 8, पृ0 757।

<sup>3</sup> चरणगतिभक्षणयोः (भ्वादि 552 भावे) सू0 3/3128।

<sup>4</sup> डॉ0 बलदेव मिश्र, भारतीय संस्कृति, पृ0 117।

<sup>5</sup> डॉ0 विश्वम्भर दयाल, वैदिक संस्कृति और दर्शन, पृ0 120

<sup>6</sup> साधूनां च यथावृत्तमेदाचारलक्षणम्। (म0भा0 अनु0 104)

<sup>7</sup> वृहदारण्यकोपनिषद् 4/415।

आवश्यक तथा परम उपयोगी हैं। आचार और विचार से मनुष्य एकरूपता एवं लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। उसी प्रकार रथ बिना दूसरी पहिये के बिना एक पहिया से नहीं चल सकता है।

मनुष्य के जीवन में आचार का सर्वोपरि महत्त्व माना गया है। भारतीय मनीषियों से आचार का 'प्रथम धर्म' कहा है। जो मनुष्य आचार से गिरा हुआ होता है, वह वेद के फल को प्राप्त नहीं करता और वह अपने आप में हीनभावन को प्राप्त कर लेता है। आचार—संयुक्त सम्पूर्ण फलों को प्राप्त करने वाला होता है, इस प्रकार मुनियों ने आचार से ही धर्म की गति देखकर सम्पूर्ण तपों के परम मूल आचार को ही ग्रहण किया।<sup>8</sup> आचार से ही मानव को आयु, लक्ष्मी, यश की प्राप्ति होता है, तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण का होना बताया गया है।<sup>9</sup> आचार सभी धर्मों एवं वर्णों का प्रमुख मार्ग है, आचार से भ्रष्ट मानव धर्म से विमुख हो जाता है।<sup>10</sup> आचारहीन एवं दुराचारी व्यक्ति की निन्दा की गयी है तथा सदाचारी व्यक्ति को धन एवं श्री से युक्त बताया गया है।<sup>11</sup> महाभारत के शान्तिपर्व में आचारशास्त्रीय तत्वों को भारतीय परम्परा से जोड़ा गया है, जैसा कि माता—पिता, गुरु, मित्र एवं अतिथियों का सम्मान एवं आदर करना ही आचार कहलाता है।

इस वैयक्तिक आचरण का पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन में महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अतः कुछ प्रमुख आचारों का वर्णन इस प्रकार है—

भारतीय परम्परा में मानव जीवन को सर्वोत्कृष्ट बनाने वाली वंश—प्रवर्तक के रूप में माता का स्थान उत्कृष्ट है। पिता के समान माता भी परिवार की अविच्छिन्नता को जीवित रखती है। बालक की प्रारम्भिक शिक्षा माता ही होती है जिसे अनौपचारिक शिक्षा कहते हैं। इसलिए माता बच्चे के लिए सबसे महान् गुरु भी बनती है। माँ बच्चों का लालन—पालन एवं पोषण और शिक्षा

<sup>8</sup> आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मर्त एव च।  
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।।  
आचार द्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।  
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।। — मनुस्मृति 1/108-11

<sup>9</sup> महाभारत अनुशासन पर्व, 104/6

<sup>10</sup> आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः।— मनुस्मृति 1/37

<sup>11</sup> आचारः फलते धर्माचारः फलतेधनम्। — वशिष्ठ स्मृति 7/8

से मानवता का निर्माण करती है और उनके अंदर गुणों का विकास कर देती है। अतः माता को निर्माणकारिणी कहा जा सकता है। शान्तिपर्वकार का मत है कि पाँच तत्वों से बने मनुष्य के उत्पन्न होने में माता ही मुख्य हेतु होती है।<sup>12</sup> माता ही संसार के समस्त प्राणियों को सुख और शान्त्वना प्रदान करती है। जब तक माता जीवित रहती है मनुष्य अपने को सनाथ समझता है और उसके न रहने पर वह अनाथ हो जाता है।<sup>13</sup> अतः माता के समान कोई गुरु नहीं है।<sup>14</sup> अतः हम माता की आज्ञा का पालन करते हैं और उनका आदर सत्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। माता हमारे लिए वह दैवीय शक्ति प्रदान करती है जिसे हम अपने जीवन में अपनाकर सुखी रह सकते हैं। अतः हमारा यही आचरण है कि जो इन सभी बातों का पालन करता है। आचरण के द्वारा इहलोक में परम आनन्द की अनुभूति को प्राप्त करता है।

भारतीय परम्परा में पिता परिवार का मुखिया अर्थात् शासक होता है जिसके अधीन में रहकर परिवार का प्रत्येक सदस्य सुख-शान्ति का अनुभव करता है। शान्तिपर्वकार ने पितृ-भक्ति से महान् यश के साथ-साथ श्रेष्ठ लोक की प्राप्ति को बताया है।<sup>15</sup> पिता की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है।<sup>16</sup> क्योंकि न वह आज्ञा के अनुकूल हो अथवा विरुद्ध हो क्योंकि इसका पालन करने वाले व्यक्ति के लिए धर्म के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है।<sup>17</sup> अतः हम कह सकते हैं कि पितृ-भक्ति की भावना में विलीन होना प्रत्येक व्यक्ति का आचारिक कर्तव्य है पिता की सेवा करना जितना कल्याणकारी है उतना कल्याणकारी न सत्य है, न दान है, न मान है और न क्षण-मात्र दक्षिणा से युक्त यज्ञ ही है; इसलिए शान्तिपर्वकार ने पिता को धर्म, स्वर्ग, और परम देवी-देवताओं से युक्त स्वीकार किया है।<sup>18</sup>

<sup>12</sup> यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्च भौतिकः । - शान्तिपर्व, 266 / 25

<sup>13</sup> माता दोहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृत्तिः ।

मातृ लाभे सनाथत्वमनायत्वम् विपर्यये ।। - शान्तिपर्व, 266 / 26

<sup>14</sup> शान्तिपर्व-108 / 16-17 1 / 2

<sup>15</sup> शान्तिपर्व-108 / 3, 9 ।

<sup>16</sup> पितुराज्ञा परमोधर्मः । - शान्तिपर्व-266 / 11

<sup>17</sup> शान्तिपर्व-108 / 4-5, 266 / 17 ।

<sup>18</sup> पिता धर्मः माता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।

पितरि प्रीतिमापत्रे सर्वा प्रियनित देवताः ।। - शान्तिपर्व 266 / 21

मनुष्य के जीवन में धन-धान्य, स्वर्ग-अपवर्ग विद्या, पुत्र, सुख आदि सभी सुखों की प्राप्ति पितृ-भक्ति से ही सुलभ है।<sup>19</sup> प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अपने पिता के सम्मान के प्रति देवतुल्य भावना से समर्पित रहे तथा अपनी भक्ति-भावना को लेकर उनके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर उनसे दिव्य आशीर्वाद प्राप्त करें, यही पितृ-भक्ति का एक प्रमुख आचारिक कर्तव्य है, जिससे मानव अपने समस्त दुःखों का विनाश करते हुए ईशलोक को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

प्राचीन भारतीय परम्परा और साहित्य जगत् में शिक्षा का विशेष महत्त्व दृष्टिगत होता है। शिक्षित व्यक्ति जीवन के घने अज्ञानन्धकार को दूर करके प्रकाशमय हो जाता है। इस ज्ञान के उद्भव का आधारतत्त्व शास्त्र और विवेक माना गया है।<sup>20</sup> किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इसका आधार क्या है? अब हम यह कह सकते हैं कि जिसे हम आचार्य अथवा गुरु की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं, जिसकी भक्ति अथवा सेवा के द्वारा शिष्य अपनी मेधा शक्ति को प्रखर करता है। यही इसका आधार है।

शान्तिपर्व में गुरु-भक्ति का अत्यधिक महत्वपूर्ण उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि गुरु की सेवा करने वाला मनुष्य महान् यश और कीर्ति को प्राप्त करता था। जो मनुष्य गुरु की आज्ञा-पालन में सदैव तत्पर रहता है उसके लिए किसी दूसरे धर्मपालन की आवश्यकता नहीं होती है।<sup>21</sup> गुरु के प्रति सच्ची भक्ति-भावना रखनी चाहिए। गुरु को पहले भोजन कराने से पहले स्वयं भोजन न करना, प्रत्येक व्यक्ति इस नैतिक कर्तव्य का पालन करते हुए उत्तम पुण्य को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि शान्तिपर्वकार ने माना है।<sup>22</sup> शान्तिपर्व के एक अन्य स्थल पर राजा अम्बरीष द्वारा गुरु-भक्ति का स्पष्ट उदाहरण मिलता है, जिसने गुरु की आज्ञा उनके बताए हुए नियमों के द्वारा राजशास्त्र की विशेष शिक्षा प्राप्त की थी। गुरु के प्रति सच्ची भक्ति-भावना

<sup>19</sup> वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड-30/36।

<sup>20</sup> महाभारत, शान्तिपर्व-107/18

<sup>21</sup> शान्तिपर्व-108/3-5।

<sup>22</sup> शान्तिपर्व-108/8-11।

और सेवा करना परम धर्म है<sup>23</sup>, जिससे मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मी की प्राप्ति कर लेता है।<sup>24</sup> गुरु-भक्ति का भाव रखना प्रत्येक व्यक्ति का आचारिक कर्तव्य है और किसी भी परिस्थिति में गुरु का परित्याग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार गुरु किसी दशा में त्याज्य नहीं है उसके प्रति सदैव विनतभाव से उपस्थित होना चाहिए। शान्तिपर्वकार यहाँ तक कहता है कि अपने गुरु का न ही नाम लेना चाहिए न ही तुम कहकर सम्बोधित करना चाहिए।<sup>25</sup> इससे भी गुरु-भक्ति की सच्ची भावना प्रकट होती है। गुरु-भक्ति की भावना परम आचारिक कर्तव्य है इसलिए भारतीय नीतिकारों ने 'आचार्य देवो भव' कहकर गुरु को देववत् स्वीकार किया।

मैत्री की भावना भी आचारिक कर्तव्य है। आचारशास्त्रीय अवधारणा में मित्र की महत्ता को बताया गया है। भारतीय नीतिकारों ने "उपकारं फलं मित्र" कहकर मित्र को उपकारी बताया है। अतः मित्रता का भाव रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदा उपकारकर्ता होता है। मैत्री का भाव एक आन्तरिक भाव है जिससे मन को परम शान्ति मिलती है। जो सच्चा मित्र होता है वह सुख-दुःख में समान भाव रखता है तथा अपने मित्र को कुमार्ग एवं पाप से दूर रखता है और उसके अन्दर अच्छे गुणों का विस्तार करता है और आवश्यकता पड़ने पर मित्र की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता है।<sup>26</sup>

मैत्री का भाव रखने वाला व्यक्ति अपने मित्र के साथ इन दुर्गुणों का प्रयोग नहीं करता है। एक अन्य स्थल पर मैत्री भाव प्रकट करते हुए वर्णित है कि जैसे रंगा हुआ कपड़ा अपना रंग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार मैत्री की भावना रखने वाला व्यक्ति अपने मित्र की ओर से विलग नहीं होता है।<sup>27</sup> मैत्री का भाव प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विद्यमान होना चाहिए। मित्र के सहयोग में सदा सम्मान की प्राप्ति होती है और मित्र द्वारा मनुष्य आपत्तियों से छुटकारा पाता है और परम आनन्द की अनुभूति को प्राप्त करता है।

<sup>23</sup> शिष्याणां गुरु शुश्रूषा।- शान्तिपर्व-359/5।

<sup>24</sup> गुरुनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया।- शान्तिपर्व-193/16।

<sup>25</sup> शान्तिपर्व-193/15।

<sup>26</sup> नीतिशतकम्-66।

<sup>27</sup> विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम्।-शान्तिपर्व-168/21

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मैत्री की भावना एक प्रमुख आचारिक कर्तव्य है। जिसके द्वारा मानव सब दुःखों से मुक्त होता है और सुख की अनुभूति प्राप्त करता है।

अतिथि का सत्कार, दानशीलता की भावना, तप की भावना, त्याग की भावना, शील की भावना, कृतज्ञता की भावना और मृदुभाषिता की भावना भी रखना हमारा आचारिक कर्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिए मृदुभाषी होना चाहिए। मनुष्य की पहचान उसके वाणी से होती है। जैसा कि नीतिशतककार ने कहा है—मनुष्य के बाँह पर बिजौटा बाँधने से उसकी शोभा नहीं होती और न चन्द्रमा के जैसे ज्वाज्वल्यमान मुक्ताहार पहनने से, न स्नान से, न चन्दनादि अंगराग लगाने से न पुष्पमाला धारण करने से और न केश—पाशों को सजाने से ही उसकी शोभा होती है, सुसंस्कृत वाणी ही एक वस्तु है जो मनुष्य को सुशोभित करती है और सब गहने तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु वाणी रूपी गहना सबसे बड़ा गहना है।<sup>28</sup>

मनुष्य अपनी मृदुभाषिता से समाज को अपना मित्र बना लेता है। मृदुभाषिता भी एक सामाजिक नैतिकता है। मृदुभाषिता की भावना मानव का आचारिक गुण है, जिसके माध्यम से वह प्रत्येक सदस्य का प्रिय पात्र बन जाता है और वह अपने दुर्गम कष्टों को भी आसानी से पार कर लेता है।

मानव जीवन में आचार का सर्वोपरि स्थान है। आचार के प्राण तो वास्तव में मनुष्य के विचार ही हैं। शुद्ध आचार के द्वारा मनुष्य कठिन से कठिन कार्यों को आसान बना सकता है। आचार शुद्धता के कारण पूर्णशक्ति को प्राप्त कर तुरन्त फल न प्रदान करे लेकिन जीवन को ठोस आधार प्रदान करने में आचरण की भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान है। अतः हमारे जीवन में आचार का महत्वपूर्ण योगदान है। उत्तम आचार विचार, सदाचार से मनुष्य का जीवन सुखमय एवं आनन्ददायी होता है। अतः मनुष्य को अपने जीवन में आचार को अर्थात् आचरण को अपनाना सीप में मोती के समान है।

<sup>28</sup> केयूराणि न भूषन्ति द्वारा न चन्द्रोज्ज्वला।  
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।  
पाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यतेः  
ध्तीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।—नीतिशतकम्—16